भारतीयता

और

समाजवाद

दत्तोपन्त ठेंगड़ी

महामन्त्री

भारतीय मजदूर संघ

प्रकाशक
रामनरेश सिंह
प्रधानमंत्री
भारतीय मजदूर संघ, उत्तर प्रदेश
१४/१२ बम्बारोड, दर्शन पुरवा
कानपुर।

मूल्य ४० न० पै०

मुद्रक—
शाइनिंग प्रिन्टर्स
२४/१२५ पटकापुर,
कानपुर।

विषय प्रवेश

		पृष्ठ
१.	पूंजीवाद, समाजवाद या समूहवाद क्यों नहीं ?	५
२.	भारतीय संस्कृति और समाजवाद	१२
३.	प्रजातंत्र और समाजवाद	३०
४.	जड़वादी दर्शन के भयावह परिणाम	३९

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तिका भारतीय मजदूर संघ के महामन्त्री श्री दत्तोपन्त ठेंगड़ी के भाषणों का संकलन मात्र है, जिसमें 'समाजवाद' के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालकर 'भारतीयता', 'राष्ट्रीयता', 'प्रजातंत्र' तथा 'आर्थिक सुव्यवस्था' व 'समानता' आदि से ताल मेल न बैठने के कारणों को सप्रमाण दिग्दर्शित किया गया है।

पुस्तिका में 'कम्युनिज्म' का पर्यायवाची 'समूहवाद' उल्लिखित किया गया है, वास्तव में उस स्थान पर 'गिरोहवाद' शब्द चाहिये था। पाठक इस तथ्य से भी परिचित ही होंगे कि 'कम्युनिज्म' का अर्थ 'साम्यवाद' नहीं होता, अस्तु इस भूल को सुधार कर पड़ने की कृपा करें।

—प्रकाशक

पूंजीवाद, समाजवाद, या कम्यूनवाद क्यों नहीं ?

पूंजीवाद

पूंजीवाद स्वतन्त्रता को बनाये रखते हुए समाज हित सोचता है, पर इसमें व्यक्ति प्रमुख है। व्यक्ति इतना स्वच्छन्द होता जाता है कि उसे अपने समाज पर ही हाबी होने में हिचक मालूम नहीं होती। उसके हाथ में धन आता है और वह पूंजी का स्वामी बन जाता है। पूंजी के आधार पर वह श्रम खरीदता है, यंत्र खरीदता है, यातायात पर अधिकार जमा लेता है और कई बार तो पूरे बाजार को ही अपने नियंत्रण में कर लेता है। वस्तुओं के मूल्यों में अपने लाभ की दृष्टि से हेरफेर करने लगता है और उपभोक्ता की जेब की तली तक नाप कर लाभ उठाता है। इसी का नाम पूंजीवाद है, जिसमें पूंजी को ही गुलाम बनाकर रखा जाता है। जो व्यक्ति के लिये तो लाभकर है पर वह न तो श्रम आदि को उचित पारिश्रमिक देता है और न उपभोक्ताओं की ही सुविधाओं का ध्यान रखता है। वह सर्वभक्षी के रूप में एक विशाल दैत्य का रूप धारण करता है।

समाजवाद

पूंजीवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप समाजवाद की उत्पत्ति हुई है। प्रतिक्रिया के आवेग में भावात्मक दृष्टि का स्थान नहीं है। एक खराबी

को दूर करने के आवेश में दूसरी खराबी ने जन्म पाया है। यह व्यक्ति के अस्तित्व को मिटाने पर तुल गया है। व्यक्ति को गुलाम बनाकर रखता है। यह सरकार को महत्व देता है और धीरे धीरे सबकी स्वतन्त्रता हड़पता जाता है। इसका तर्क यह है कि जब तक राज्य को सब कुछ दे नहीं दिया जाता, शेष की रक्षा नहीं हो सकती। उसका कहना है इस व्यवस्था के अभाव में जो असंगठित, कमजोर एवं सर्वहारा है, उनका शोषण होता है। पर राज्य को सब कुछ देने का परिणाम यह होता है कि कुछ ही हाथों में समस्त अधिकार एवं तन्त्र केन्द्रित हो जाते हैं—यह मानव को केवल खाने पीने वाली मशीन मात्र मानता है और मनुष्य में स्थिति भावना, बुद्धि और आत्मा को पहचानने से इनकार करता है। इसने पूर्णतः भौतिक बातों का ही विचार किया है। इसका कहना है ईश्वर, धर्म, मजहब और नैतिकता केवल मूर्खता की बातें हैं और इन बातों का दुरुपयोग सर्वहारा एवं दुर्बल लोगों को संतोष दिलाने के लिये किया जाता है।

राष्ट्रीयकरण, एक रोग

'राष्ट्रीयकरण'—समस्याओं का उपचार नहीं वरन् महाभयंकर 'रोग' है। समाजवाद के नाम पर समाजद्रोह की यह क्रिया है। इसका सीधा अर्थ है—लोगों के अधिकार छीन लेना और गुलाम बनाकर रखना। राष्ट्रीयकरण से मजदूर खुशहाल नहीं होता। इस प्रकिया से सारी शक्ति शासन चलाने वाली पार्टी के प्रमुख—जो भी दो, तीन, एक होंगे—उनके हाथ में आ जाती है। हिटलर एवं स्टालिन से भी बढ़कर तानाशाह इस पद्धति से जन्म लेते हैं। जैसे हम टाटा, बिड़ला को प्रधान मन्त्री नहीं बनाना चाहते, उसी प्रकार प्रधानमन्त्री को भी सारे उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करके हजार टाटा बिड़लाओं से भी सम्पन्न पूंजीपति नहीं बनाना चाहते। आज संसार के सबसे बड़े पूंजीपति ख्रुश्चेव हैं, जिनके इंगित पर हजारों एवं लाखों को इस दुनिया से

छुटकारा मिलता रहता है। यह है एक उदाहरण जिससे हमको शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

मांग और पूर्ति स्थायी हल नहीं

भारत में ऐसी अनेक धारणाओं एवं व्यवस्थाओं का विकास हुआ जो अनेक अंशों में तुलनीय है। पश्चिम के नवीन उत्पन्न राष्ट्र अभी भी सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं के हल करने में परीक्षण और स्खलन की पद्धति का प्रयोग कर रहे हैं। किन्तु, भारतीयों को इस बात का विशेष सौभाग्य प्राप्त है कि इन लोगों को धर्म के अंगभूत सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक, ठोस और मौलिक सिद्धांतों का साक्षात्कार हुआ। हम सभी श्रमिक आजकल प्रारम्भिक पारिश्रमिक, मंहगाई, भत्ता, बोनस, वृद्धि, कार्यकाल, कार्यभार, अवकाश, सामाजिक सुरक्षा, श्रमिक कल्याण आदि विषयक अनेक मांगों को रख रहे हैं। ये सभी मांगें निस्सन्देह उचित एवं आवश्यक हैं। पर इस मांग तालिका से केवल छिद्रावरोध मात्र का कार्य होता है, किन्तु स्थायी हल नहीं हो पाता। संसार के श्रमिकों को तब तक चैन नहीं मिल सकती जब तक कि न्याय, समानता और सद्भाव के आधार पर आश्रित किसी उपयुक्त सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का उदय नहीं हो जाता। क्या इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम पश्चिम के किसी अपूर्णवाद को अपना लें ?

उत्पादन लाभ के लिए नहीं

हम "लाभ के लिये उत्पादन" सिद्धांत पर आधारित पूंजीवाद को नहीं अपना सकते। इसमें माँग और पूर्ति का नियम कार्यशील रहता है जिससे मूल्य से उत्पादन को नियंत्रित करना पड़ता है। इसी प्रकार हम कम्युनिज्म को भी नहीं अपना सकते। इसमें व्यक्तिगत लाभ की प्रवृत्ति के स्थान पर सरकारी प्रयोग की व्यवस्था की जाती है। किन्तु इस व्यवस्था में राजकीय अधिकारियों के हाथ में समस्त

आर्थिक शक्ति केन्द्रित हो जाती है। अर्थात् राज्याधिकारियों के ही हाथों में उत्पादन एवं वितरण का समस्त अधिकार चला जाता है। एक मात्र राज्य ही उत्पादन, उत्पादन व्यवस्था, वेतन एवं भत्ता आदि के देने, उत्पादन तथा उपभोग में समन्वय स्थापन के ब्याज से मूल्य निर्धारिणादि का अधिकारी हो जाता है। ये दोनों ही व्यवस्थायें असामाजिक हैं एवं कटु आलोचना की पात्र हैं। यद्यपि अनेक कारणों में "योग्यतानुसार काम एवं आवश्यकतानुसार पूर्ति" का सिद्धांत प्रत्यक्ष रूप में आकर्षक प्रतीत होता है, किन्तु इसमें उत्पादन एवं विभाजन पर पूर्ण अधिकार रखनेवाले सर्वग्रासी राज्य की सत्ता अनिवार्य है।

दोनों अपूर्ण एवं एकांगी

एक में व्यक्ति प्रमुख है और दूसरे में सरकार प्रमुख। दोनों ने ईश्वर और प्रकृति को केवल मनुष्य के सुख के लिए माना है। दोनों ही व्यवस्थाओं में केन्द्रीयकरण अपरिहार्य है। दोनों में अन्ततोगत्वा व्यक्ति (मजदूर) न तो उत्पादक और न ही उपभोक्ता रह पाता है। दोनों शोषण करती हैं। पूंजीवादी व्यवस्था में कतिपय स्वतन्त्र पूंजीपतियों द्वारा निर्दयतापूर्वक शोषण किया जाता है। कम्युनिज्म समाजवाद की आखिरी कड़ी है। कम्युनिस्ट व्यवस्था में इन पूंजीपतियों के स्थान पर कम्युनिस्ट नेताओं का एक वर्ग आजाता है। गैर कम्युनिस्ट जनतंत्रीय ढांचे में व्यक्तिगत पूंजी से लाभ होने वाले शोषण को बहुत अंशों में नियंत्रित, नियमित तथा अवरुद्ध किया जा सकता है परन्तु कम्युनिस्ट राज्य में शोषक शासकों के वर्ग को नियंत्रित करने वाली कोई शक्ति शेष नहीं बचती। उद्योगों पर राज्य का स्वामित्व होता है पर राज्य पर जनता का स्वामित्व नहीं रहता।

पूर्णतावाद

भारत ने व्यक्ति और समाज दोनों का विचार किया है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता रहनी चाहिए और उसके गुणों का उपयोग

समाज के लिए हो ऐसी यहां की धारणा है। 'राम' व्यक्ति के नाते चले गये पर समाज के नाते वे अमर हैं। हमारा यह विश्वास है कि देश की प्रगति व्यक्तियों के स्वतन्त्र कार्यों के द्वारा ही हो सकती है, राज्य के आत्महीन तन्त्र के जरिये नहीं तथा न तो बेलगाम निजी उद्योग (पूंजीवाद) और न ही केन्द्रीकृत व्यापक नियोजित अर्थ व्यवस्था (समाजवाद) समाज का हित कर सकती है। इस प्रकार की पद्धति का आविर्भाव किया जाना चाहिये कि जिससे सत्ता निरंकुश न हो और स्वतन्त्रता में मनमानी करने का लाइसेंस न हो और जिसमें हमारे मूल्यवान परम्परागत अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं का संरक्षण किया गया हो। अर्थात् व्यक्ति की आवश्यकताओं के साथ राष्ट्र की सुरक्षा की आवश्यकतायें भी निहित रहें। "कमाने वाला खायेगा" समूहवादी ओछे नारे से बहुत आगे "जो पैदा हुआ है वह खायेगा" यही हमारे सोचने का दृष्टिकोण है। किसी भी सभ्य समाज में न कमाने वाला बच्चा तथा अपाहिज गोली का शिकार नहीं बनाया जा सकता। "योग्यताके अनुसार लिया जावेगा और योग्यताके अनुसार दिया जावेगा" की कोरी कल्पनाओं को व्यवहारिक जगत में उतारने के लिए हमारी पद्धति में 'देने की अधिक और लेने की कम' भावना चरितार्थ है। कम्युनिस्ट नारा भले ही किसी को आकर्षित करने में समर्थ हो किन्तु 'योग्यतानुसार काम' के अनुसार काम लेने वाला कौन होगा ? योग्यता का निर्धारण कौन करेगा ? सबकी आवश्यकता का निर्धारण कौन करेगा ? हर एक को आवश्यकतानुसार देने वाला कौन होगा ? और यदि किसी मानवीय निमित्त द्वारा यह सबसे महत्वपूर्ण काम पूर्ण भी हो जाय तो क्या वह निमित्त उन सबका स्वामी नहीं बन जायगा जिनकी आवश्यकताओं की पूर्ति उसके द्वारा होती है ? इस सर्वातिशय शक्ति-शाली निमित्त का नियंत्रण कौन करेगा ? क्या सर्वशक्ति सम्पन्न राज्य के लिये यह सम्भव है कि वह समस्त मानवीय अवयवों से वैधानिक दबाव के द्वारा अधिकतम सम्भव कार्य करा ले या मनुष्य की सतत्

बुद्धिगत समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति कर दे ?

अतः देश की कोई भी योजना केन्द्रीयकरण और एकाधिपत्य की प्रवृत्तियों को बचाकर बनायी जानी चाहिये, जिससे देश के आर्थिक और राजनैतिक विकास में जनता को अधिकाधिक सहयोगी बनाया जा सके ।

उपयुक्त अर्थ व्यवस्था

कर्म अर्थोत्पादक तथा व्यक्ति एवं समाज के लिये हितकर हो—यही अर्थ-व्यवस्था और समाज व्यवस्था का प्रधान लक्षण होना चाहिये। अर्जन का अधिकार ही व्यक्ति के सम्मानपूर्ण जीवन का अधिकार है । 'काम के अधिकार' के साथ ही अर्जित वस्तु के उपयोग और उपभोग का अधिकार भी जुड़ा है । सम्पत्ति का अधिकार इसी आधार पर स्वीकृत किया गया है । काम की पूरी उजरत न मिलने अथवा सम्पत्ति के आधिक्य दोनों से ही कर्म प्रेरणा नष्ट होकर मानव-जीवन में विकृतियाँ आती हैं । अस्तु अर्थ के अभाव और प्रभाव दोनो को ही रोकना आवश्यक हैं । न्यूनतम जीवनस्तर की गारन्टी तथा अधिकतम अर्थ की मर्यादा निश्चित करना अनिवार्य है । शारीरिक सुख रहते हुये भी मानसिक अशांति बनी रह सकती है । अमेरिका जैसे धनी देश में नींद के लिये टैवलेट लेने पडते हैं । "गोधन गजधन, वाजधन और रतनधन खान । जब आवे संतोषधन, सबधन धूरि समान ।।" शरीरके अतिरिक्त मन, बुद्धि आत्मा का सुख भी चहिये । भारत ने इन चारों का विचार किया है । अपरिग्रह अपने यहाँ का जीवन केन्द्र है । हमने कर्म का सिद्धांत माना है । "कर्म का विचार व्यक्ति करेंगें और भोगका विचार समाज करेगा ।

भारतीय परम्परा

जनतन्त्र (Democracy) में रिक्त स्थान (Vacancy) के अनुसार काम मिलता है, गुण का उतना महत्व नहीं तथा कम्युनिस्ट

देशों में पहले लोगों के लिये Job तैयार किया जाता है, पश्चात् उनकी नियुक्ति होती है। हमारे यहां भारत में गुण कर्म के अनुसार जन्म से ही रोजी की व्यवस्था है। यहां यह विश्वास है कि अपनी नियमित रोज़ी के बिना किसी का जन्म ही नहीं होता।

भारत ने ऐसे सामाजिक आर्थिक व्यवस्था को विकसित किया, जिसने कर्म को भगवत्पूजा का पवित्र रूप बना दिया। इस व्यवस्था में मन्दी के समय भी काम की गारण्टी थी। प्रत्येक व्यक्ति 'शतहस्त समाहर सहस्रहस्त समाकिर' अर्थात् सौ हाथों से एकत्रित करो और हजार हाथों से वितरित करो, के आदर्श से प्रेरित होता है। समाज की विशेष आवश्यकता के अनुसार व्यक्ति की रुचि सम्बद्ध रहती है। गुण कर्मानुसार सामाजिक उत्तरदायित्व के विभाजन से स्वयमेव अधिकारों का विकेन्द्रीकरण हो गया और व्यक्ति स्वातन्त्र्य तथा सामाजिक नियम में उपयुक्त सन्तुलन स्थापित हुआ, जिससे जनतन्त्रीय अनुशासन और अनुशासित आर्थिक जनतन्त्र की उत्पत्ति हुई। यही एकमेव मार्ग है, जिस पर चलने के लिए हम प्रयत्नशील हों।

भारतीय संस्कृति एवं समाजवाद

हमारी संस्कृति और समाजवाद के विषय में मौलिक विचार रखने में अनेक कठिनाइयां हैं। प्रथम तो यह चटपटा और रुचिकर नहीं बनाया जा सकता और दूसरे इसे समझने के लिये अत्यंत गहराई तक जाकर विचार करना पड़ता है।

सबसे पहले तो हमें विचार करना होगा कि भारतीय संस्कृति क्या है ? वस्तुतः भारतीय संस्कृति का अर्थ है हिन्दू संस्कृति और कुछ नहीं। हिन्दू को छोड़ देने के बाद कुछ नहीं बचता। हिन्दू संस्कृति अत्यंत विशाल है इस कारण इसकी व्याख्या करना बड़ा कठिन है। सम्यक और अच्छी कृति ही संस्कृति है। यह वह कृति है जो सम्पूर्ण सृष्टि की धारणा के लिये की जाती है।

धर्म और संस्कृति

हमारे यहाँ धर्म और संस्कृति का उल्लेख प्रायः साथ साथ आता है। अपनी धर्म की परिभाषा विशाल है। धर्म अर्थात् वैश्विक नियम (**Universal Laws**) जिन से सम्पूर्ण चराचर की धारणा हो सके। धर्म किसी ने बनाया नहीं। रिलीजन (**Religion**) जितने भी हैं, वे किसी न किसी व्यक्ति द्वारा बनाये गये हैं।

हिन्दू धर्म में कोई पैगम्बर या पुस्तक नहीं है। शैव, भागवत, जैन, बौद्ध आदि सम्प्रदाय उसमें हो सकते हैं। इन सम्प्रदायों के

पैगम्बर हो सकते हैं किन्तु हिन्दू धर्म का कोई पैगम्बर या लिखित ग्रन्थ नहीं है। हम रे ऋषि-मुनियों ने धर्म को देखा उसका दर्शन किया। ऋषियों ने तो मात्र उसका दर्शन किया एवं तदनुकूल जीवन तथा समाज की रचना की। इसीलिये उन्हें 'द्रष्टा' कहा गया। वे कवि या तत्वज्ञ नहीं थे। आज भी पश्चिम में प्रश्न पूछा जाता है "आप ईश्वर को मानते हैं" (**Do you belive in God**) पर हमारे यहाँ पूछा जाता है "आपने ईश्वर देखा है ? हम अनुभव (**Realization**) पूछते हैं मत (**Opinion**) नहीं।

हिन्दुओं का एकाधिकार नहीं

हिन्दू धर्म पर हिन्दुओं का एकाधिकार नहीं है। यह तो सृष्टि धर्म है। उदाहरणार्थ गुरुत्वाकर्षण का नियम ही ले लीजिये, इसको न्यूटन ने बनाया—यह गलत है। पाश्चात्य जगत में न्यूटन ने इसे सर्व प्रथम देखा। वस्तुतः वह नियम पहले भी था। न्यूटन के सिद्धाँत प्रतिपादन के पहले भी फल नीचे गिरते थे, आसमान में नहीं जाते थे। आइंस्टीन का सापेक्षतावाद का नियम अनादिकाल से था, पर उसे देखा आइंस्टीन ने ही। इसी प्रकार हिन्दुओं ने सर्व प्रथम इस धर्म नियम को देखा, इस कारण इसका नाम हिन्दू धर्म पड़ा।

मनुस्मृति का नाम भी मानव धर्मशास्त्र है। धर्म सृष्टि का है। इसके अनुकूल ही समाज रचना हुई। व्यक्ति विशेष की इच्छा एवं दृष्टिकोण से बनाये गये नियमों के आधार पर हमारी समाज रचना नहीं हुई है।

आज चतुर्दिक समाजवाद का नारा लगाया जाता है। उसकी विशेषताओं एवं सद्गुणों की प्रशंसा के पुल बांधे जाते हैं और इसके साथ संस्कृति पर आधारित समाज रचना को निर्गत तिथि (**Out of date**) भी घोषित किया जाता है।

अधिकृत व्यवस्था नहीं

समाजवाद में समाज की सामाजिक, राजनैतिक अथवा धार्मिक व्यवस्था की अधिकृत शास्त्रीय व्याख्या कहीं भी उपलब्ध नहीं। अगर हम यह समझते हैं कि समाजवाद में जीवन की सर्वांगीण व्यवस्था का विधान है तो यह हमारा भ्रम है। समाजवाद में मार्क्स (**Marx**) को प्रामाणिक माना गया है किन्तु मार्क्स ने स्वयं अधिकृत रूप से समाजवाद के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था पर कुछ नहीं लिखा है।

अपने मोटे मोटे ग्रन्थों में मार्क्स ने उन विधियों(**Systems**) का वर्णन किया जिससे शोषण को मिटाया जा सकता है अथवा पूंजीवाद को समाप्त किया जा सकता है, परन्तु व्यवस्था की अपनी योजना को उसने कहीं व्यक्त नहीं किया।

यह तथ्य इस प्रकार से अधिक स्पष्ट हो सकता है। मार्क्सवाद ने इतना ही कहा है कि पूंजीवाद (**Capitalism**) बुरा है, क्योंकि इसमें अन्तर्विरोध है। अन्तर्विरोध के कारण यह स्वयं टूट जायगा, फिर क्यों न क्रान्ति एवं हिंसा (**Revolution and Violency**) द्वारा इसे शीघ्र तोड़ दिया जाय। पूंजीवादी व्यवस्था नष्ट होते ही समाजवाद आ जायगा। अर्थात् प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार साधन मिलेंगे और शक्ति भर कार्य करना होगा।' परन्तु वह कौन सा सामाजिक संस्थान (**Social Agency**) होगा जो प्रत्येक की आवश्यकता और शक्ति का निर्धारण करेगा।

विवेचनात्मक दृष्टिकोण से देखा जाय तो यह कल्पना अपने ग्रन्थों की "सर्वे भवन्ति सुखिनः....." के समान है। यह तो कल्प वृक्ष की कल्पना है। यह आदर्श यथार्थ में समाज रचना या अर्थ रचना नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इसमें एक व्यक्ति(**Individual**) और समाज के परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार अबाधि गति से चलेंगे इसकी कोई व्यवस्था नहीं।

समाजवाद का स्वप्न

मार्क्स ने मजदूरों की तानाशाही स्थापित करने का स्वप्न देखा। उसने पुनः कहा कि कुछ दिनों के बाद यह मजदूरों की तानाशाही स्वयं समाप्त हो जायगी। यह स्वयं को नष्ट कर लेगी। किन्तु वह कौन सा आदर्शवाद है जिसके आधार पर अधिनायकवाद की परम्परा टूट जायगी।

जैसे अपने ग्रंथों में 'सर्वे भवन्ति' कहा वैसे ही कुरान शरीफ में भी कहा गया कि वहां सब मिलेगा। ठीक ऐसी ही बात मार्क्स ने कही। अर्थात् जितने व्यक्ति हैं उतने प्रकार का समाजवाद बनेगा।

आज नेहरू जी, लोहिया, जय प्रकाश बाबू, अशोक मेहता और डांगे सभी का अपना एक समाजवाद है। लगता है कि यह समाजवाद कोई एक वस्तु नहीं। यह बहुत सी वस्तुओं का मिश्रण है।

जब हम ब्रह्म या परमेश्वर की बात करते हैं तो कहते हैं कि वह एक है केवल नाम अनेक हैं। (एकं सद् विप्रा बहुधा बदन्ति।) परन्तु यहां तो समाजवाद नाम एक है, वस्तुयें अलग अलग हैं।

हिन्दू समाज रचना से कोई तुलना नहीं

इस प्रकार हम देखें तो स्पष्ट है कि समाजवाद की कोई अधिकृत समाज रचना नहीं है। निश्चित हिन्दू जीवन रचना से समाजवाद की अनिश्चित व्यवस्था की तुलना कठिन ही है।

वास्तव में साम्यवाद भी एक रिलीजन है। मार्क्स इसका पैगम्बर है, कैपीटल इसका ग्रन्थ है। उच्चस्तरीय साम्यवाद उसका स्वर्ग है। द्वन्दवाद (**Dealectic**) ही उसका ईश्वर है। जो सबका कारण है। इस प्रकार एक रिलीजन होने के कारण कम्युनिज्म भी रूढ़िवादी है।

समाज का वैश्विक दर्शन

समाजवाद में जीवन रचना किस प्रकार होगी। यह समझने के पूर्व हमें समाज के वैश्विक दर्शन (**Cosmology**) को समझना होगा। क्योंकि दार्शनिक पृष्ठिभूमि पर ही जीवन का व्यवहार और आदर्श बनाया जाता है।

वैश्विक दर्शन के तीन पहलू हैं :—

१. सृष्टि का निर्माण कैसे हुआ ?
२. सृष्टि का लक्ष्य क्या है ? कहां जा रही है ?
३. किस प्रकार जा रही है ? लक्ष्य तक जाने का मार्ग कौन सा है ?

मार्क्स का आधार

समाजवाद के वैश्विक दर्शन का मापदण्ड मार्क्स है। उसका जीवनकाल १९वीं शताब्दी का है। यह युग विज्ञान का था। नये नये आविष्कारों से उत्फुल्लित वैज्ञानिकों ने सम्पूर्ण संसार को टेस्ट-ट्यूब में ही सीमित करना चाहा। अर्थात् जो वस्तु वैज्ञानिक प्रयोगों में सम्भव नहीं, उसका अस्तित्व ही नहीं। इन वैज्ञानिकों ने अपने को बुद्धिवादी (**Rationalist**) कहा। सारा फैसला दूरवीक्षण यंत्र पर करने का संकल्प लेकर चलने वाले वैज्ञानिकों ने कहा कि (**Substance**) भगवान है नहीं क्योंकि वह टेलिस्कोप पर देखा नहीं जा सकता।

इस प्रकार के अध्ययन में इन लोगों ने ५ लाख से ऊपर पदार्थ ढूंढ़ निकाले और कहा कि यही सत् है, शेष सब कल्पना है।

धीरे धीरे विज्ञान की प्रगति हुई। विश्लेषणात्मक अध्ययन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकला कि ये सभी पदार्थ (५ लाख) ९२ या ९४ तत्वों से मिलकर बने हैं। पुनः यह ९२ तत्व भी द्रव्य (**Matter**) और ऊर्जा (**Energy**) में विभाजित कर दिये गये। ऊर्जा भी द्रव्य का एक गुण मात्र है। अतः वैज्ञानिकों की दृष्टि में द्रव्य (**Matter**) ही मौलिक है।

ये वैज्ञानिक भावना और बुद्धि को भी मौलिक नहीं मानते। यह दोनों भी द्रव्य के समिश्रण हैं। अर्थात् द्रव्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं। ईश्वरवादियों ने प्रश्न किया कि मत क्या है। बुद्धि कहां से आती है। उन्होंने उत्तर दिया कि मस्तिष्क (**Brain**) के कुछ कोषों (**Cells**) के एकत्र होने से कल्पना उत्पन्न होती है।

इस प्रकार मार्क्स का निर्माण का सिद्धाँत भौतिक विज्ञान (**Physical Science**) पर आधारित है।

वैश्विक दर्शन का दूसरा आधारभूत सिद्धांत अर्थात् सृष्टि का लक्ष्य क्या है, का विवेचन करते समय मार्क्स ने डार्विन के सिद्धांत का सहारा लिया। जिस प्रकार निर्माण के लिये उसने न्यूटन के भौतिक विज्ञान के सिद्धांत को मानव मस्तिष्क और समाज विज्ञान पर लागू किया उसी प्रकार लक्ष्य के निर्धारण में वह मानवेतर जीवों के विकास का सिद्धांत समाज शास्त्र में लागू कर देता है। मानवेतर प्राणियों के क्रमिक विकास की भांति मानव समाज और उसकी व्यवस्था का भी विकास होता है। इस प्रकार की मान्यता मार्क्स ने दी।

अंतिम अर्थात् विकास का ढंग मार्क्स ने दर्शन के सिद्धान्तों से निकाला। जिसका मूल आधार हीगेल का द्वन्दवाद है।

इसके अनुसार विचारों की प्रगति द्वन्द के द्वारा होती है। प्रत्येक नया विचार अपने पुराने विचार के विरोध के रूप में प्रकट होकर उसे नष्ट कर देता हैं। फिलासफी के इस सिद्धांत को मार्क्स ने समाजशास्त्र पर लागू किया और बताया कि समाज व्यवस्था की भी एक स्थिति (**Thesis**) होती है। उस स्थिति के अन्तर्गत उसके विरोधी तत्वों (**Anti-Thesis**) का उदय होता है। दोनों के संघर्ष के फलस्वरूप **Thesis** नष्ट हो जाती है और तीसरी ही स्थिति का निर्माण होता है, जिसे **Synthesis** कहा गया। कालक्रम

से यह **Synthesis** ही **Thesis** बन जाती है और फिर उसके अंतर्गत उसके **Anti-Thesis** के निर्माण की प्रकिया आरम्भ हो जाती है। यही क्रम चलता रहता है।

इस प्रकार संक्षेप में मार्क्स के तथाकथित समाजवाद का वैश्विक दर्शन इस प्रकार है :—

१. निर्माण - द्रव्य के द्वारा ही सब कुछ बनता है।
२. समाज और सृष्टि का क्रमिक विकास हो रहा है। जिसका लक्ष्य पूर्णता है। यह विकास जीवों की भाँति ही हो रहा है। जैसा कि डार्विन का मत है।
३. विकास की पद्धति विरोध विकासवाद है। अर्थात् एक रचना पूर्ववर्ती रचना से ही उत्पन्न होकर उसे नष्ट कर देता है।

इस प्रकार हमने मार्क्सवादी समाज व्यवस्था का विचार करते हुये देखा कि मार्क्स के वैश्विक दर्शन के अनुसार समाज द्रव्य (**Matter**) से उत्पन्न होकर क्रमिक विकास (**Evolution**) की ओर जा रहा है। जिसका मार्ग है विरोध विकासवाद।

विरोध विकासवाद को स्पष्ट करने के लिये कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। जैसे अंडे का फूटना और बच्चे की उत्पत्ति। अंडा यह एक पूर्वपक्ष (**Thesis**) है। जिसके अन्दर का जीवन प्रतिपक्ष (**Anti-Thesis**) है और इसके परिणाम स्वरूप बच्चे की उत्पत्ति (**Synthesis**) है।

सामाजवाद की उत्पत्ति

मार्क्स ने सामाजिक प्रगति पर यह सिद्धांत लागू करते हुये यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पहले सामाजिक श्रम जागीरदारी (**Feudal**) ढंग का था, जिसमें बड़े लोग बेगार लेते थे। इसके बाद यंत्रों का युग आ गया जो प्रतिपक्ष (**Antithesis**) के रूप में सिद्ध हुआ और इसके संश्लेषण (**Synthesis**) से पूंजीवाद का जन्म

हुआ । इस पूंजीवाद में भी आन्तरिक विरोध है । अतः यह नष्ट हो जायेगा । पूंजीवाद का प्रतिपक्ष (**Antithesis**) मजदूर शोषित जनता होगी और संश्लेषण (**Synthesis**) होगा समाजवाद (**Socialism**) ।

अब यदि तनिक विचार करें तो समाजवाद की उत्पत्ति का निम्न सूत्र कितना श्रेष्ठ है ।

१—पूर्वपक्ष, प्रतिपक्ष, संश्लेषण (**Thesis, Antithesis, Synthesis**) ।

२—अंडा, आन्तरिक जीवन, बच्चा ।

३—पूंजीवाद, श्रमिक समाजवाद ।

इस प्रकार समाजवाद पूंजीवाद की संतान है । अन्तर केवल है प्रतिस्थिति (**Antithesis**) से उत्पन्न होने के कारण समाजवाद का, पूंजीवाद की वैध नहीं अपितु अवैध सन्तान होने का ।

भारतीय मान्यतायें

समाज के वैश्विक दर्शन विषयक भारत की मान्यतायें मार्क्स के समाजवाद से सर्वथा विपरीत है । भारतीय मान्यता के अनुसार :—

[१] समाज और विश्व का निर्माण चैतन्य से हुआ है— पदार्थ अथवा द्रव्य से नहीं । यह चैतन्य सर्व शक्तिमान, सर्व व्यापी और परब्रह्म स्वरूप है । इसकी सीमा में सब हैं किन्तु यह स्वयं असीम है ।

[२] सृष्टि का अन्तिम लक्ष्य केवल विकास ही नहीं है । सम्पूर्ण समाज और सृष्टि तीन लक्ष्यों पर है ।

(अ) सृष्टि (**Projection**)

(ब) उत्क्रान्ति (**Evolution**)

(स) अपक्रान्ति अथवा प्रलय (**Involution**)

समाज में यह तीनों ही क्रम विद्यमान हैं तथा तीनों प्रकियायें अनवरत और साथ साथ चलती रहती हैं ।

[३] इन सबका मार्ग विरोध विकासवाद (**Dialecticism**) है। यह भारतीय मान्यता में नहीं आता। हम इसके विरोधी हैं।

समाजवादी दर्शन और तदनुकूल जिस समाज व्यवस्था का डिमडिम बजाने के लिये संसार के अनेक राष्ट्र आज होड़ लगा रहे हैं, उसकी परीक्षा आवश्यक है। बिना कसौटी पर खरा उतरे किसी विचार को मान लेना तो अंधश्रद्धा है।

जब हम मार्क्स के दर्शन को इस कसौटी पर कसते हैं तो वह सर्वथा अयोग्य सिद्ध होता है। आधुनिकतम विज्ञान की शोधों के कारण मार्क्स के दर्शन के रचना काल का विज्ञान भी असत्य सिद्ध हो चुका है। अर्थात् जिस पदार्थ और द्रव्य से उसने विश्व की उत्पत्ति की कल्पना की, उस पदार्थ या द्रव्य के स्वरूप की ही कल्पना आज खंड खंड हो गई है। क्योंकि आज यह माना जाता है कि द्रव्य और ऊर्जा (**Matter and energy**) परस्पर परिवर्तनीय (**Convertible**) है। सान्द्र ऊर्जा (**Concentrated energy**) ही द्रव्य है और द्रव्य का परिवर्द्धित (**Expanded**) रूप ऊर्जा है। फिर तो द्रव्य मूलतत्व (**Fundamental elements**) रह नहीं गया। इस कारण द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता समाप्त हो गई है। आज एक तत्व को सफलता पूर्वक दूसरे तत्व में परिवर्तित करने के लिए वैज्ञानिक जीतोड़ प्रयास कर रहे हैं।

इसके साथ साथ पश्चिम के वैज्ञानिक और विशेष कर अमेरिका में चल रही मनोवैज्ञानिक खोजों से आज यह सिद्ध हो गया है कि पंच ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त छठी ज्ञानेन्द्रिय भी हैं जिसे हम इंद्रियों के द्वारा जान नहीं सकते। इसे हम 'प्रज्ञा' (**Intution**) कह सकते हैं। इन शोधों में बिना यंत्र की सहायता से दूर की वस्तुओं को देखने का प्रयोग सफल रहा। जिसे अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष **Extra Sansary Preception** (**E.S.P**) की संज्ञा दी गई। इसी प्रकार बिना

इंद्रिय प्रयोग के दूर की ध्वनि सुनना भी संभव हो सका है। भारत जैसे ऋषि मुनि की परम्परा वाले देश के लिये यह भले नई बात न हो परन्तु भौतिकतावादी पाश्चात्य दर्शनों की जड़ इससे हिल गई है। मार्क्स का दर्शन भी इससे बच नहीं सकता। यदि द्रव्य ही समस्त निर्माण का मूल है तो द्रव्य की न्याय प्रभुत्व (**Jurisdiction**) की सीमा से परे वह अतीन्द्रिय प्रज्ञा (**Intution**) क्या होगी ? अतः सृष्टि का आधार द्रव्य है यह किसी भी अवस्था में स्वीकार करने योग्य नहीं।

विकास ही नहीं, प्रलय भी

मार्क्स की दूसरी मान्यता सृष्टि का केवल विकासोन्मुख होना है। यदि सृष्टि में केवल विकास ही विकास है और इसका अंतिम लक्ष्य विकास ही है तो उन वस्तुओं को समाप्त हो जाना चाहिए जिनका विकास आज रुक जाता है। अर्थात् केवल शक्तिशाली ही रहें शेष सब समाप्त हो जायें। परन्तु ऐसा है कहां ? हाथी के साथ खरगोश और चींटी भी तो जीवित हैं।

भारतीय जीवन दर्शन में सृष्टि, उत्क्रान्ति और प्रलय की कल्पना है। जिसके परिचायक हैं ब्रह्मा, विष्णु और महेश। परब्रह्म की यह तीन शक्तियां अथवा रूप सृष्टि में तीनों का जारी रखते हैं।

पाश्चात्यों के अनुसार यह विश्व उत्पन्न हुआ और इसका विकास हो रहा है। हमारे यहाँ इसे सृष्टि कहते हैं। सृष्टि का अर्थ उत्पत्ति नहीं - सृष्टि तो प्रक्षेपण (**Projection**) है। सुवर्ण से अनेक आभूषण और आटे से रोटी का उत्पन्न होना नहीं कहा जा सकता। रोटी और आभूषण तो आटे और सुवर्ण के प्रक्षेपण मात्र हैं। यह सृष्टि ब्रह्म या अतीन्द्रिय सत्ता का प्रक्षेपण है। द्रव्य और पदार्थ स्वयं प्रक्षेपण हैं। नासदीय सूत्र के अनुसार सृष्टि होती है, उसका विकास होता है और उसका लय भी होता है। इसी प्रक्रिया को

लाक्षणिक रूप में त्रिमूर्ति बताया गया है । इनका कार्य साथ चलता है ।

आज पश्चिमी विचारकों और मार्क्सवादियों के सामने भी संकट है । यदि आज ऊर्जा का द्रव्य में बदल जाना प्रगति (**Evolution**) है तो द्रव्य का ऊर्जा में परिवर्तित होना परागति है । प्रकृति का विलोम यदि संभव है तो निश्चय ही वह परागति ही है । फिर प्रगति और परागति का साथ होने का अर्थ विकासवाद सिद्धान्त का खण्डन, अर्थात् सृष्टि का लक्ष्य केवल विकास हो नहीं हो सकता ।

मार्क्सवाद स्वंय नश्वर है

मार्क्स ने सृष्टि विकास के मार्ग का निरूपण करने के लिये विरोध विकासवाद 'द्वन्दवाद' (**Dialecticism**) का सहारा लिया । परन्तु यह सिद्धांत स्वयं मार्क्स के लिये आत्मघाती सिद्ध हुआ ।

प्रत्येक संश्लेषण (**Synthesis**) कुछ दिनों के बाद पूर्वपक्ष (**Thesis**) बन जाता है जिसका प्रतिपक्ष (**Antithesis**) उत्पन्न होना अनिवार्य है । इस सिद्धांत को माना भी जाय तो पूंजीवाद के बाद आने वाले समाजवाद का भी प्रतिपक्ष (**Antithesis**) उत्पन्न होना चाहिये । मार्क्स ने कहा कि समाजवाद आ जाने के बाद अन्तर्विरोध का नियम भंग हो जायगा । (**The dialecticism will cease its operation after Socialism.**) परन्तु विश्व नियम तो त्रिकालबाधित होना चाहिये । जो नियम मार्क्स की कल्पना वाले समाज की उपलब्धि के बाद नष्ट हो जायगा, वह पहले भी नष्ट हो सकता है जिससे समाजवाद का स्वप्न ही टूट जायगा अथवा समाजवाद आ जाने तक वह नियम ठीक ढंग से चलता रहा तो प्रतिपक्ष उत्पन्न कर समाजवाद को भी वह मार डालेगा । इस प्रकार विरोध विकासवाद दोनों परिस्थिति में (चाहे वह वैश्विक नियम बने या न बने) समाजवाद के लिये घातक है ।

माओत्सेतुंग ने कहा कि पूंजीवाद का अन्तर्विरोध बुरा है। समाजवाद का अन्तर्विरोध अच्छा है। इस तरह से माओ ने मार्क्स के सिद्धाँतों का खण्डन कर दिया अर्थात् समाजवाद में भी अन्तर्विरोध है यह स्वीकार कर लिया। माओ का यह नवीन मार्क्सवाद मूल मार्क्सवाद से विचलन (**Deviation**) ही कहा जायगा।

अन्तर्विरोध के नियम का दूसरा व्यतिक्रम भी है। इसके अनुसार पूर्वपक्ष के सारे गुण नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् अंडा नष्ट हो जाता है और बच्चा उत्पन्न हो जाता है। परन्तु ऐसा नहीं है। दोनों में समानता रहती है। संश्लेषण में पूर्ववर्ती वस्तु के गुण विद्यमान रहते हैं। इसी प्रकार यदि अंकुर बीज को नष्ट करता हुआ उत्पन्न होता है तो इसमें बीज के गुणों का भाव और उसका सातत्य (**Continuation**) नहीं होना चाहिये। मार्क्स पूर्ववर्ती वस्तु का नाश (**Destsuction**) होना मानता है। परन्तु भारतीय दृष्टिकोण से यह परिवर्तन (**Transformation**) मात्र है। हम सत्कार्यवाद के समर्थक हैं। यदि नष्ट होना सही है, तो बरगद के बीज के अंकुरण से आम भी बन सकता है जो नितांत भ्रामक है।

उक्त दो खण्डों में हमने समाजवाद की मूल मान्यताओं के निरूपण के साथ उनके पक्ष और प्रतिपक्ष का विवेचन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला है कि तथाकथित समाजवादी दर्शन का आधार गलत है। गलत आधार पर किये जाने वाले आचार और व्यवहार का अंतिम परिणाम कभी सुखद नहीं हो सकता। परन्तु आज सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि मार्क्सवादी दार्शनिक समालोचना न तो सर्व सुलभ है न ही बोध गम्य। मार्क्सवाद के नाम पर समाज में आकर्षक नारों के सहारे कार्य करने वालों में से अधिकांश न तो इस दर्शन की भूमिका और उसके परिणामों को समझ कर कार्य करते हैं न ही उनकी आलोचना द्वारा उन्हें समझाया जा सकता है।

इस प्रकार के सभी वादों के दार्शनिक पक्ष के अतिरिक्त एक व्यवहारिक पक्ष भी होता है। व्यवहार पक्ष में किसी वाद की कल्पना के अनुसार बनने वाली समाज रचना भी आती है। आगे हम मार्क्सवाद के आधार पर हो सकने वाली समाज रचना और उसके स्वरूप की विवेचना करेंगे। क्योंकि वस्तुतः मार्क्सवाद में किसी भी समाज व्यवस्था का निश्चित रूप कभी रक्खा नहीं गया जैसा कि उल्लेख किया था।

आधुनिक विज्ञान की उत्तरोत्तर प्रगति एवं उसके नवीनतम आविष्कारों के कारण मार्क्सवाद और समाजवाद की सैद्धाँतिक मान्यतायें खंड खंड हो चुकी। इसका विवेचन और निर्णय हमने भारतीय संस्कृति की मान्यताओं के आधार पर किया। जैसा कि पहले चर्चा की गई थी कि किसी भी वाद अथवा मत का सैद्धांतिक पक्ष सबके लिये सुलभ और बोधगम्य नहीं है वरन् उसका व्यवहार पक्ष ही सर्व सामान्य के दैनन्दिन उपयोग में आता है। समाजवाद के नाम पर जिस समाज रचना का निर्माण पाश्चात्य जगत में हुआ उसका वर्णन हम आगे करेंगे।

पाश्चात्य समाज के दो रूप

सर्व प्रथम राजशाही शासन समाज था। सम्पूर्ण देश और समाज का शासक एक राजा होता था। समय बीतने पर इसके प्रति विद्रोह हुआ और जनतंत्र आया। इस जनतन्त्र का उद्देश्य था व्यक्ति स्वातन्त्र्य पर आधारित लोकतन्त्र की स्थापना। पश्चिम की आदत और परम्परा के अनुसार यह व्यक्तिस्वातन्त्र्य पराकाष्ठा पर पहुंच गया। स्थिति यहाँ तक पहुंची कि समाज का सामान्य व्यवहार और उसकी नैतिकता भी व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के नाम पर लाइसंस मुक्त हो गई। **Lisenceless on the name of individual Freedom**. यह स्थिति पूर्ण स्वेच्छाचार की सीमा पार कर गई। **Free interprise** के नाम पर आर्थिक शोषण (**Economic exploitation**) शुरू हुआ।

पुनः प्रतिक्रिया

इस स्वेच्छाचार की प्रतिक्रिया स्वरूप एक नई समाज व्यवस्था का बीजारोपण हुआ। जो विकसित भी हुई। राजशाही से चिढ़ कर जिस लोकशाही को पनपने का प्रयास किया जा रहा था, उसे बीच में ही छोड़कर अब एक ऐसे समाज की कल्पना की जाने लगी जिसका सम्पूर्ण नियंत्रण राज्य (State) द्वारा हो। इसमें व्यक्तिगत स्वातंत्र्य का आदर्श समाप्त हो गया। सरकार सर्वस्व मान ली गई। व्यक्ति और समाज शासन यंत्र के निर्जीव पुर्जे बन गये।

उक्त समाज रचना का आधार अनुशासन था। ऐसा अनुशासन जिससे व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के नाम पर प्रचलित स्वेच्छाचार को रोका जा सके, इसके लिये समानता पर जोर दिया गया। इस समानता का रूप **Uniformity** था जो सर्वथा असम्भव था। कम्युनिष्ट समाजवाद इसी प्रकार का अनुशासन चाहता है। परन्तु इस ढंग के अनुशासन से विचारवरोध (**Regimentation of thoughts**) उत्पन्न होता है।

उपसंहार एक है

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजशाही के विरोध में जो दो प्रकार की व्यवस्थायें पाश्चात्य जगत में विकसित हुईं उनका दोनों का उपसंहार घातक हैं। क्योंकि एक में स्वतंत्रता के नाम पर शोषण है और दूसरे में अनुशासन के नाम पर सेनाक्रम(**Regimentation**)।

भारतीय आदर्श

इन दो समाज व्यवस्थाओं में सामंजस्य प्रस्थापित करने वाली मध्यम व्यवस्था यदि कोई है तो भारतीय व्यवस्था ही। हम किसी चरम मार्ग (**Extreme**) को नहीं मानते। हमारा उद्देश्य एकता है, समानता नहीं (**Unity, not uniformity**)।

प्रत्येक व्यक्ति का विकास उसके गुण धर्म के अनुसार होना चाहिये। व्यक्ति अलग इकाई न होकर समाज का अंग है। पुरुष सूक्त में इस प्रकार के विशाल पुरुष की कल्पना की गई है, जो सहस्त्र नेत्रों भुजाओं व सिर वाला हो। आखिर यह व्यक्ति राष्ट्र नहीं तो और क्या है। सम्पूर्ण समाज में अपने व्यक्तित्व का विलीनीकरण और इस कारण अपने विकसित व्यक्तित्व के आधार पर जिस समाज की रचना होती है, उसमें व्यतिक्रम उत्पन्न नहीं होता।

पश्चिम में स्वतंत्रता की आड़ में स्वेच्छाचार और अनुशासन की आड़ में **Regimentation** पनपता है। वहीं पर भारतीय समाज की कल्पना पुरुष शरीर से की जाती है। शरीर के अंगों में आकार भिन्नता है। नाक कान जैसी नहीं है। उनके गुणों में भी अंतर है। आँख रसगुल्ले का स्वाद नहीं बता सकती। हर एक अग का अपना स्थान भी भिन्न है परन्तु उन अंगों में एकता है। चोट कहीं लगे आंसू आंख में ही आते हैं।

इन सब अंगों का व्यक्तिगत विकास संभव है, होता भी है। वह नहीं तो पूरा शरीर एक कमी से युक्त हो जायगा। आँख का व्यक्तिगत विकास यानी बिना चश्मा लगाये दूर और नजदीक की वस्तु को देख लेता है उसका विकास सुनने की दृष्टि से सम्भव नहीं। परन्तु सब अवयवों से मिलकर एकात्मभाव आवश्यक है।

पश्चिम का संदेह

पश्चिम के लोगों के मन में आज एक संदेह उत्पन्न हो गया है। वह यह कि :—

१. अनुशासन है तो **Regimentation** (सेनाक्रम)।

२. व्यक्ति स्वातंत्र्य है तो स्वेच्छाचार।

अतः कोई ऐसा लचीला मार्ग सम्भव नहीं है जो इन दोनों के मध्य चल सके। वे लचीला अनुशासन समझ नहीं पाते। किन्तु भारतीय

समाज रचना का लचीला अनुशासन सर्वविधि सम्भव है। इसे समझने के लिये एक उदाहरण लेना ठीक रहेगा।

आज हमारी स्थिति युद्ध की है। युद्ध विषयक मुख्य दो विचार सर्वत्र मिलते हैं।

[१] कैसे भी शान्ति स्थापित हो (**Peace at any cost**), चाहे वह मरघट की ही क्यों न हो।

[२] शान्ति स्थापित हो पर वह सामान्य, जीवमान हो अर्थात् मरघट की शान्ति नहीं चाहिये (**No dead peace**)।

अब इन मार्गों में कौन सा मार्ग अच्छा है या अपनाया जाय इसका विचार छोड़कर सोचें तो एक चीज रह जाती है कि विचार करने वाला समाज अथवा व्यक्ति कैसा होगा। क्योंकि मार्ग का निर्णय तो समाज और उसके अंगों पर ही है।

मान लिया जाय कि परिस्थिति विशेष में युद्ध की स्थिति आगई है। ऐसे समय साम्यवादी समाज में कोई व्यक्ति यदि यह प्रश्न करे कि लड़ूं अथवा न लड़ूं तो उसे गोली का शिकार होना पड़ेगा। यह तो अनुशासन के नाम पर चलने वाले समाजवाद का निर्णय हुआ। अब दूसरा मार्ग बचता है जनतन्त्र का।

जनतन्त्र का चरम विकास फ्रांस में हुआ। फ्रांस में जब युद्ध की स्थिति उत्पन्न हुई उस समय **Pator** कैबिनेट का नेता था। व्यक्ति स्वातंत्र्य यहां पर अत्यधिक था। जनता ने ही विचार किया लड़ें या न लड़ें। और जब वह एक प्रारम्भिक पाठशाला में अपनी कैबिनेट के साथ विचार विमर्श कर रहा था जनता द्वारा घेर लिया गया और आत्म समर्पण करने के लिए बाध्य किया गया।

इस प्रकार से एक ओर हित अनहित का विचार किये बिना सरकार की आज्ञाओं का अंधाधुंध पालन अभीष्ट है तो दूसरी ओर व्यक्तिगत स्वतंत्रता के नाम पर देश की पराधीनता की किंचितमात्र

चिन्ता न करते हुये लोगों का नेता को ही शत्रु के समक्ष आत्म समर्पण करने के लिये विवश करना भी उचित समझा जाता है। वस्तुतः दोनों ही अवस्थायें घातक हैं।

युद्ध की परिस्थिति में यदि पाश्चात्य जगत की प्रचलित दोनों प्रणालियों की चरम आवश्यकताओं के अनुसार कोई निर्णय लिया जाय तो निश्चय ही वह उचित नहीं होगा। क्योंकि एक में व्यक्ति का हनन होता है और दूसरे में सम्पूर्ण राष्ट्र का। अब यदि कोई मार्क्सवादी यह कहे कि व्यक्ति के ह्रास से राष्ट्र बच जाता है तो क्या बुरा, तो यह उचित नहीं है। क्योंकि यहाँ एक व्यक्ति के बलिदान का प्रश्न नहीं, यहाँ तो सम्पूर्ण समाज को निर्जीव मशीन बनाया जाता है।

भारतीय समाधान

भारत में इसका समाधान है। यहाँ शंका उत्पन्न करने और उसे व्यक्त करने की पूरी छूट है। अनुशासन के नाम पर किसी का मुंह बंद नहीं किया जाता। महाभारत का युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व अर्जुन ने समस्त समाज के वर्णशंकर होकर भ्रष्ट हो जाने की शंका कृष्ण से व्यक्त की और लड़ने के विषय में पूछा। आज कोई कम्युनिस्ट सैनिक अपने अफसरों से यह पूछे कि मैं युद्ध पर जाऊं या नहीं तो क्या परिणाम होगा—हम सब जानते हैं, परन्तु कृष्ण ने पूर्ण तौर से समझाया पूरा १८ अध्याय कहा। समस्या के सभी पहलुओं (**Pors and cons**) पर विचार रक्खा। और अंत में कहा कि मेरी कही बातों पर पूरी तरह विचार कर दवाब या स्वेच्छाचार के कारण नहीं, जैसी इच्छा हो वैसा कर।

'विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।'

व्यक्ति स्वातंत्र्य की चरमसीमा तक पहुंचे समाज का नागरिक अपने नेता को कभी यह नहीं कह सकता कि :—

'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे,
शिष्य स्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।'

(अर्थात् 'इस समय क्या करना श्रेयस्कर रहेगा यह आप मुझे निश्चित रूप से बतायें, मैं आपका शिष्य हूं।')

और कम्युनिस्ट सरकार का कोई भी नेता अपने अनुयायिओं को यह नहीं कह सकता कि— 'विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।' (अर्थात्, मेरी बातों पर संपूर्ण विचार कर जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो।)

भारतीय समाज व्यवस्था में व्यक्तिस्वातंत्र्य का हनन नहीं, किंतु उसे अमर्याद, अनियंत्रित भी नहीं बनने दिया जाता। उसमें अनुशासन है, किन्तु सेनाक्रम नहीं। अर्थात् लचीला अनुशासन है। (अंग्रेजी में भी **Discipline** शब्द का मूल संबन्ध केवल सेना से नहीं है। **Disciple** शिष्य का भाव याने **Discipline**)

अतः भारतीय अर्थात् हिन्दू संस्कृति में जिस समाज रचना को रखा गया है उसका व्यावहारिक पक्ष लचीला अनुशासन है।

उपसंहार

अब यदि सबका निचोड़ निकाल कर देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि भारत के जिस लचीले अनुशासन को पश्चिम के लोग संभव से परे समझते हैं वही सर्वश्रेष्ठ है और उसके साथ उसकी सैद्धांतिक पृष्ठभूमि भी आज के तथाकथित समाजवाद से ज्यादा दृढ़ है। अतः जहां पर पश्चिम में :—

१—जनतंत्र के अंतर्गत आत्यन्तिक व्यक्तिस्वातंत्र्य के फलस्वरूप सामाजिक अनुशासन का नाश होता है, तथा

२—समाजवाद की अंतिम व अपरिहार्य परिणति कम्युनिज्म के अंतर्गत अनुशासन के नाम पर सर्वाधिकारशाही के कारण व्यक्तिस्वातंत्र्य का हनन होता है; वहीं पर भारत में—

३—हिन्दू संस्कृति की लचीली (**Flexible**) अनुशासन व्यवस्था में व्यक्तिस्वातंत्र्य का हनन न करते हुये सामाजिक अनुशासन की सिद्धि होती है और सामाजिक अनुशासन का भंग न करते हुये व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास होता है; अर्थात् व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास और सम्पूर्ण सामाजिक अनुशासन दोनों की सिद्धि साथ साथ होती है।

प्रजातंत्र और समाजवाद

ईसा मसीह ने कहा कि भेड़ के रूप में आने वाले भेड़िया से सावधान रहना चाहिये। यह चेतावनी सदा के लिये उपयुक्त है। आज भी विभिन्न आकर्षक नामों का चोंगा पहनकर मानवता विरोधी सिद्धांत हमारे सामने उपस्थित हो रहे हैं।

शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार मार्क्सवाद ही समाजवाद है। समाजवाद में से यदि मार्क्सवाद को निकाल दिया जावे तो केवल शून्य ही शेष बचेगा। पर किया क्या जावे? बेचारे मार्क्स ने समाजवाद की वैचारिक पृष्ठभूमि तो लिखी पर आर्थिक और राजनैतिक ढांचे के सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं लिखा। इसी अधिकृत चित्र के अभाव में आज सबने अपने अलग अलग तरीके से समाजवाद चलाये हैं।

समाजवाद की एक निश्चित थ्योरी नहीं

आज नेहरू, लोहिया, डांगे, रणदिवे, अशोक मेहता सबके अलग अलग 'समाजवाद' हैं। इतना ही नहीं हिन्दू महासभा ने भी घोषणा की है कि हम 'हिन्दू समाजवाद' लाना चाहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी हिटलर के समय में जर्मनी ने "नेशनल सोशलिज्म" का नारा दिया था। अभी नासिर ने घोषणा की है कि हम "अरब सोशलिज्म" लावेंगे। जिस समय पत्रकारों ने उनसे तर्क किया तो वे तुरन्त सम्हल कर बोले कि हमारे यहां के समाजवाद में वर्ग संघर्ष का स्थान नहीं रहेगा।

किसी भी वाद को जीवित रहने के लिए एक सुनिश्चित थ्योरी रहनी चाहिये। पर उस थ्योरी के अभाव में 'समाजवाद' बेचारा

"भानुमती का पिटारा" बन रहा है। वह एक ऐसी टोपी हो गई है कि किसी के भी सिर पर फिट बैठ सकती है। आज यह इतना अस्पष्ट व संदेहयुक्त हो गया है कि शायद ही इसके समान दूसरा शब्द मिले। प्रचारतंत्र में धोखा-धड़ी का बढ़ जाना स्वाभाविक है। नाम 'लक्ष्मीपति' होगा पर होंगे बिल्कुल 'गरीब'। जनता को आकृष्ट करने के लिये 'सुन्दर' नाम रखने की प्रथा चल पड़ी है। पर क्या केवल 'लेबल' से समाधान किया जा सकेगा? वास्तविकता यह है कि समाजवाद की शास्त्रीय परिभाषा की तो शास्त्रीय तथा अधिकृत समाजवाद याने मार्क्सवाद ही है। मार्क्सवाद को छोड़कर समाजवाद की कल्पना याने डेनमार्क युवराज को छोड़कर "हैम्लेट" की कल्पना है। मार्क्सवाद के अलावा समाजवाद का लेबल नकली तथा अशास्त्रीय है।

भूत दया व समानता की कल्पना से समाजवाद का कोई सम्बन्ध नहीं

जहां तक जीव दया की कल्पना व समानता की बात है, उसका समाजवाद से किंचित भी सम्बन्ध नहीं। भारत जैसे ऋषि, मुनियों व बैरागियों के अनुपम त्याग व वैराग्य के समान उदाहरण संसार में अन्यत्र नहीं मिलेगा। 'सर्व भूत हिते रताः' की बातें क्या सोशलिस्ट ग्रंथों के अध्ययन से उनके मस्तिष्क में आयी थीं? भगवान को करुणा-निधि क्यों कहा जाता है? प्राणिमात्र का ध्यान रखने वाले भगवान बुद्ध व महाबीर स्वामी क्या सोशलिस्ट थे? ईसा मसीह के दस सिद्धाँतों (**Ten Commandments**) में कौन सा ऐसा सिद्धांत नहीं है, जिसकी पूर्ति के लिये सोशलिज्म का प्रादुर्भाव हुआ? क्या उन्होंने कोई सोशलिज्म की किताब पढ़ी थी? मुहम्मद साहब क्या सोशलिस्ट थे? जिन्होंने मरने के कुछ ही समय पूर्व कहा था 'मैंने अल्लाह की ले ली और धरती की छोड़ दी।' जड़वादी समाजवाद के लिये तो 'धरती की ले ली और अल्लाह की छोड़ दी' चाहिये थी। गाय को

बचाने के लिये राजा दिलीप व कबूतर की जान बचाने के लिए राजा शिवि ने जो अपनी आहुति देने का निर्णय किया वह किसी समाजवादी पुस्तक की देन नहीं थी। सोशलिस्ट न होते हुये भी कई दिनों के भूखे रन्तिदेव ने अपने सामने की परोसी हुई थाल को अतिथियों के सम्मुख रख दिया।

महात्मा गांधी की जीव दया और सामाजिक न्याय के भाव की तुलना क्या समाजवाद कर सकेगा ? जीवन भर 'समाजवाद' का तो उन्होंने नाम तक नहीं लिया. 'रामराज्य' कहा। 'पोलेटेरियट' नहीं कहा, अपितु 'दरिद्रनारायण' कहा। सोशल जस्टिस के लिये जीवन पर्यन्त लड़ने वाले डा० बाबा साहेब अम्बेडकर ने अपने आपको 'समाजवाद' का विरोधी घोषित किया। उन्होंने लिखकर रखा है कि सोशलिज्म और 'पार्लियामेंटरी डिमाक्रेसी सिस्टम' साथ साथ नहीं चल सकते।

एम० एन० राय जैसे मनिषी भी सोशलिस्ट के नाते नहीं मरे। जवानी में भावना प्रधान होने के कारण सोशलिस्ट बने रहे पर बुढ़ापे में वे लाल से पीले हो गये। मार्क्सवाद के सभी पहलुओं पर विचार व्यक्त करने वाले अपने जीवन के अन्तिम चरण में उन्होंने सोशलिज्म छोड़ दिया और "न्यू रेडिकल ह्यूमनिज्म" की स्थापना की। सोशलिज्म का एक भी वाक्य न पढ़ते हुये फ्लोरेन्स नाइटेंगल के हृदय में घायल तथा रुग्ण लोगों के विषय में, हावर्ड के मन में गुनहगारों के विषय में, कगवा तथा फादर डमियन के मन में कुष्ठ रोगियों के विषय में, एलिजावेथ फ्राय के हृदय में, मानसिक रोगियों के विषय में, जोसे फाइन बटलर के हृदय में, पतित महिलाओं के विषय में तथा अब्राहमलिंकन और बूकर टी० वाशिंगटन के मन में नीग्रो लोगों के विषय में अति उत्कट दया भाव जागृत हुआ था।

तात्पर्य यह है कि जहां भगवान है और जहां मनुष्य हैं—ये सब

भूत दया के भाव आने ही वाले हैं। 'समाजवाद' के कारण उसमें देर लग सकती है पर जल्दी नहीं हो सकती।

स्वामी विवेकानन्द ने अपनी व्यथा व्यक्त करते हुये कहा है "समाज के सभी व्यक्तियों को धन, विद्या और ज्ञान उपार्जन करने के लिए एक समान अवसर मिलना चाहिये। हर एक विषय में स्वतन्त्रता अर्थात् मुक्ति की ओर प्रगति ही मनुष्य के लिये उच्चतम लाभ है। जो सामाजिक नियम इस स्वतन्त्रता के विकास के मार्ग में बाधक हैं, उन्हें शीघ्रता से नष्ट करना चाहिये। इस वस्तुस्थिति को दूर करना है—धर्म का नाश करके नहीं वरन् हिन्दू धर्म के महान उपदेशों के अनुसार आचरण करके और बौद्ध मत, जो हिन्दू धर्म का तर्क संगत विकास रूप है, उसकी चमत्कारपूर्ण सहानुभूति को उस आचरण के साथ युक्त करके।"

"सभी को चाण्डाल तक को जाज्वल्यमान मंत्रों का उपदेश करो। यदि तुम ऐसा नहीं कर सकते तो धिक्कार है, तुम्हारी शिक्षा और संस्कृति को, धिक्कार है तुम्हारे वेदान्त और अध्ययन को।"

"नवभारत का उदय होने दो। उसका उदय हल चलाने वाले किसानों की कुटिया से, मछुये मोचियों और मेहतरों की झोपड़ियों से होवे। बनिये की दुकान से, रोटी बेचने वाले की भट्ठी के पास से वह प्रकट हो। कारखानों, हाटों, बाजारों से वह निकले। वह नवभारत अमराइयों और जंगलों से, पहाड़ों और पर्वतों से प्रकट हो।"

"अपने खजाने की उन पिटारियों और उन रत्नजड़ित मुद्रिकाओं को उनके बीच जितनी जल्दी हो सके फेंक दो और तुम हवा में मिल जाओ, फिर कभी दिखाई न दो – केवल अपने कानों को खोले रखो। अपने अदृश्य होते ही तुम तत्काल भारतवर्ष का वह प्रथम उद्घोष सुनोगे, जिसकी करोड़ों गर्जनाओं से सारे विश्व में यही पुकार गूंजती रहेगी—"वाह गुरु की फतह।"

उक्त वाक्य हैं स्वामी विवेकानन्द के, जिन्होंने धर्म, धर्म की गर्जना से सारा ब्रह्माण्ड प्रभावित किया था और जिनके पास समाजवाद का एक तिनका भी नहीं फटक सका था।

प्रजातंत्र किसे कहते हैं ?

एक के विकास से दूसरे के विकास में बाधा न हो—यही धारणा प्रजातंत्र की मूल है। व्यक्ति स्वातंत्र्य व विचार स्वातंत्र्य इसके स्तम्भ हैं। वाल्टेयर ने कहा था "मैं तुम्हारे साथ सहमत नहीं पर तुम्हारे विचारों को प्रकट करने का स्वातंत्र्य मिलना ही चाहिये, इसके लिये मैं प्राण तक दे सकता हूं"—इस प्रकार के भाव ही प्रजातंत्र के आधार हैं। अब्राहमलिंकन के शब्दों में "**Of the people for the people by the people**" प्रजातंत्र की व्याख्या की गई है। प्रजातंत्र— प्रजातंत्र के खूनियों को भी स्वातंत्र्य देता है।

लोकतांत्रिक कल्याणकारी राज्य में, शासक वर्ग जनता की भावना को प्रतिबिम्बित करते हैं। व्यक्तियों को मूलभूत अधिकार प्राप्त होते हैं। स्वतन्त्र सार्वजनिक प्रवृत्ति के लिये आर्थिक आधार के रूप में सम्पत्ति अधिकार सुरक्षित रहते हैं। वाक् स्वातंत्र्य और सभा, सम्मेलन का सम्मान होता है। और सबसे महत्व की बात यह है कि ऐसे राष्ट्रों में शासक वर्ग अपने निर्णयों को ऊपर से नहीं लादते हैं। ऐच्छिक वर्ग प्रवृत्तियों में गठित होने की दिशा में जनता को समझा बुझाकर वे उसका मार्गदर्शन करते हैं।

विस्तृत दृष्टि से देखा जाय तो प्रजातन्त्र एक मनः प्रवृत्ति है। जीवन के हर एक क्षेत्र में उस प्रवृत्ति का आविष्कार होना चाहिए। पश्चिम योरुप में ट्रेड यूनियन तथा कोआपरेटिव्स के द्वारा 'आर्थिक लोकतंत्र' की स्थापना हुई। डा० बाबा साहेब अम्बेडकर और राजाराम मोहनराय, महात्मा फुले सरीखे महापुरुषों ने 'सामाजिक लोकतन्त्र' स्थापित करने के लिये समूचा जीवन लगा दिया। 'रिलीजस डेमोक्रेसी'

की स्थापना के लिये इस्लाम के अन्तर्गत अमानुल्ला और मुस्तफाकमाल पाशा ने प्रयास किये। जर्मनी में मार्टिन लूथर ने भी यही किया और कहा कि "Here I stand, I Cannot do otherwise God help me" यह रिलीजस डेमोक्रेसी का घोष वाक्य है।

समाजवाद क्यो नहीं ?

'प्रजातन्त्र' विभिन्न जीवन निष्ठाओं के साथ मेल खा सकता है पर समाजवाद की बात भिन्न है। प्रजातन्त्र में अन्याय निष्ठाओं के साथ समन्वित (Common) सूत्र मिल सकता है पर समाजवाद में यह सम्भव नहीं। चूंकि शास्त्रीय समाजवाद सम्पूर्ण मनुष्य जाति के मौलिक घटक के नाते 'वर्ग' का स्वीकार करना है, और यह वर्ग संघर्ष हर एक राष्ट्र में विघटन पैदा करता है। अस्तु शास्त्रीय समाजवाद और राष्ट्रीयता साथ साथ नहीं जा सकते। मनुष्य की मौलिक इकाई 'राष्ट्रवाद' है, 'वर्गवाद' नहीं। 'वर्ग' के आधार पर विभाजन करना 'राष्ट्रीयता' को चुनौती देना है और उसे समाप्त करना है। 'राष्ट्र' और 'क्लास' दोनों में से एक ही चुना जा सकता है। 'राष्ट्रीयता' और 'समाजवाद' का मेल नहीं बैठ सकता पर प्रजातन्त्र का बैठ सकता है।

राष्ट्रपति राधाकृष्णन के शब्दों में "यदि हम लोकतंत्र के सिद्धांतों का सचाई से पालन करें तो मार्क्सिज्म नहीं आवेगा।" अर्थात् एक के रहने पर दूसरे की समाप्ति होगी।

जर्मनी के 'नेशनल सोशलिस्ट पार्टी' का ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा। नेशनलिस्ट व सोशलिस्ट दोनों का साथ रहना कैसे सम्भव हो सकता था ? कालान्तर में दो गुट बन गये। एक के नेता हुये 'जनरल गोरिंग' और दूसरे के 'कैप्टन रोयम'। ३० जून सन् ३४ की रात में एक गुट को कत्ल किया गया।

अस्तु यह सिद्ध हुआ कि कहीं भी 'नेशनलिज्म' तथा 'सोशलिज्म' साथ साथ नहीं चल सकते। वहीं पर दूसरी ओर नेशनलिज्म और प्रजातंत्र का साथ तो 'चोली और दामन' का है।

कर्नल नासिर जो विचार रखते हैं, वास्तव में वह सोशलिज्म नहीं हो सकता, क्योंकि वे संघर्ष नहीं मानते। जब तक 'संघर्ष' नहीं तब तक 'प्रगति' नहीं और जब तक 'प्रगति' नहीं तब तक 'अधिकृत समाजवाद' नहीं कहा जा सकता।

शास्त्रीय समाजवाद की आधार भीति जड़वाद है। ईसाई, इसलाम, बुद्ध, जैन व पारसी किसी भी **Religion** ने जड़वाद को नहीं माना है। '**Religion**' और 'सोशलिज्म' का साथ सम्भव नहीं, पर प्रजातंत्र के साथ सम्भव है। हमारे यहां 'चैतन्य' की थ्योरी है, 'जड़वाद' की नहीं। **Godless Religion** की मान्यता कहीं भी नहीं है। मार्क्सिज्म **Godless Religion** है। स्वयं ईसा मसीह भी जड़वाद के विरोधी थे। 'आस्तिक' हो अन्यथा 'नास्तिक' प्रजातंत्र में रह सकता है पर समाजवाद में सम्भव नहीं है।

बहुत पहले अकबर ने बुद्ध, जैन, वैष्णव, ईसा इस्लाम आदि मतों को मिला-जुलाकर एक 'दीन इलाही' मत चलाया। पर वह चल नहीं सका। क्योंकि वह कोई शास्त्रीय **Compact System** नहीं था। सबका जोड़-जाड़ कर कुछ इधर उधर का लेकर बनाया गया था। आज भी 'जनतांत्रिक समाजवाद' अथवा 'समाजवादी समाज रचना' आदि विभिन्न प्रकार की शब्दावली घोषित की जा रही है। महात्मा गांधी यह जानते थे कि जैसा शब्द व्यवहार में लाया जावेगा वैसा ही भाव उत्पन्न होगा। इसी कारण वे भूलकर भी 'सोशलिस्टिक पैटर्न' जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं किये।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि 'गांधीवाद' और 'मार्क्सवाद' एक दूसरे से सर्वथा भिन्न वस्तुएं हैं। मार्क्सवादियों ने १९२८ के अपने

अंतर्राष्ट्रीय कार्यक्रम में यह स्पष्ट कर दिया था कि 'गांधीवाद' जन-क्रान्ति का अधिकाधिक विरोधी हो रहा है अतः उसका डटकर मुकाबला करना चाहिये ।

तात्पर्य यह कि जिस प्रकार प्रकाश और अंधकार साथ साथ नहीं चल सकते उसी प्रकार प्रजातंत्र और समाजवाद साथ साथ नहीं चल सकते । 'सह अस्तित्वादी प्रजातंत्र' 'स्वयमेव अस्तित्ववादी समाजवाद' के साथ नहीं चल पावेगा ।

१९०५ से १९१२ के बीच लेनिन से प्रश्न किया गया था कि वह भली प्रकार स्पष्ट करें कि क्या संसदीय प्रजातंत्र के माध्यम से वैज्ञानिक समाजवाद की स्थापना हो सकती है, उनका उत्तर निषेधात्मक था ।

समाजवाद–गुलामी से भी बदतर

समाजवादी ढांचे में सबसे प्रथम और निश्चित हत्या जिस वस्तु की होती है वह है 'व्यक्ति स्वातंत्र्य' । समाजवाद कल्याण तो नहीं कर सकता पर हां उसके परिणाम स्वरूप सर्वंकश नौकरशाही का प्रादुर्भाव अवश्य होगा । नौकरशाही के अन्तर्गत समाज के कल्याण की प्राप्ति अन्तिम वस्तु होती है । और उसमें हम जो कुछ प्राप्त करेंगे, वह होगा साधनों का अपव्यय और अत्याचारियों के नये वर्ग का उद्भव, जिसका नित्यप्रति का कार्य रहेगा–विभिन्न बहानों से व्यक्तिगत जीवन में हर क्षण हस्तक्षेप करना । तब हम केवल भय की हवा में ही सांस ले सकेंगे ।

संसार में ऐसा कोई समाजवादी देश नहीं है जिसने व्यक्ति को गिराये बिना, मानव मस्तिष्क का दम घोंटे बिना, सम्पूर्ण जाति को गुलामों के समूह में परिणत किये बिना, शासन तंत्र को चलाने के लिये एक विशेष सुविधा प्राप्त वर्ग की निर्मित किये बिना अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर ली हो । भारत में भी समाजवाद का प्रयोग यदि कभी सफल हो गया तो अन्तिम परिणाम यही होगा ।

व्यक्ति को निर्जीव समूह के रूप में अनाज की भांति पीस डालने का परिणाम भी बिलकुल वैसा ही होगा जैसा कि आटे के बो देने से बीज नहीं उगता उसी प्रकार व्यक्ति भी उत्पादन न करने वाला अर्थात्

कुन्ठित होगा और कानूनी विवशताओं से उसे कभी सुख नहीं मिल सकेगा ।

समाजवादियों का नारा है 'दान की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसमें अहसान का भाव है । अतः सरकार को दबाव डालना चाहिये । किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि इसका अन्तिम परिणाम पूर्ण दासवृत्ति में होगा ।"

वर्तमान स्थिति

हमारे समाज का नियंत्रण अभी भी 'अन्तरात्मा का धर्म' कर रहा है । वाह्य कानून जीवन के केवल ऊपरी किनारों को ही स्पर्श कर सकते हैं । वे केवल अपराधियों का दमन कर व्यवस्था को बनाये रख सकते हैं । लेकिन जीवन की स्वभाविक गति उन पर निर्भर नहीं करती । वह जनता की नैतिक चेतना पर निर्भर करती है । पर आज हमारे यहाँ ऐच्छिक संगठनों के स्थान पर धीरे धीरे राज्य द्वारा संचालित संगठन स्थान ले रहे हैं । व्यापार में निजी पहल तथा किसानों की स्वाधीनता—दोनों को धमकी दी जा रही है । स्टेशनों पर बीड़ी ब पान बेचने तक को भी सरकार अपने हाथ में ले रही है ।

हमारा राज्य जन साधारण का एकमात्र अभिभावक बनने का दावा करने लगा है । वही गलतियाँ भी करता है और स्वयं ही माफ भी कर लेता है और जिसके विरुद्ध कोई अपील नहीं हो सकती है । प्रेस की स्वतंत्रता को अवांच्छनीय कहने की गुरगुराहट प्रारम्भ हो गयी है । प्रेस की स्वतंत्रता को वे इसलिये समाप्त करना चाहते हैं कि जिससे राज्यवाद के विरुद्ध कोई प्रतिवाद न कर सके ।

दोनों साथ साथ नहीं चल सकते

स्पष्ट है लोकतंत्र और समाजवाद दोनों साथ साथ नहीं चल सकते । इनकी एक दूसरे के विपरीत व्याख्यायें व क्रियायें हैं । जहां लोकतंत्र रहेगा वहां समाजवाद नहीं और जहां समाजवाद रहेगा वहां लोकतंत्र नहीं रह सकेगा ।

मानवीय मूल्यों को सुरक्षित रखने के लिये हर कीमत पर हमेंलोकतंत्र की रक्षा करनी है । इसके लिये हम जागरूक हों और संगठित रहें ।

जड़वादी दर्शन के भयावह परिणाम

तर्क और विश्लेषण पर आधारित आधुनिक विज्ञान ने समाज को अविश्वास और संदेहवाद एवं तद्जन्य जड़वादी जीवन दर्शन प्रदान किये हैं। इसमें डार्विन, कार्ल मार्क्स एवं फ्रायड के सिद्धांत प्रधान हैं। नवीन जीवन दर्शनत्रय की त्रिवेणी में अविकसित व्यक्ति यदि मन ही मन उदात्त वृत्ति का दर्शन करना बुद्धि की विडम्बना मान बैठा है, तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही है। उदात्त वृत्तियों के प्रति वह प्रायः अविश्वासी बन गया है, क्योंकि उक्त तीनों दर्शन भौतिकवादी हैं और वे आत्मा को अस्वीकार करके मानव को जड़ और जड़वादी बनाने पर बल देते हैं।

डार्विन और फ्रायड ने क्रमशः पाशविकता एवं कामुकता को मानव का सहज धर्म बताकर उदात्त वृत्तियों के प्रति उपेक्षा-भाव जागृत करने में बहुत कुछ सहायता की है। परन्तु सर्वाधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ है—कार्ल मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और उससे उत्पन्न कम्यूनवाद, जिसके मतानुसार प्रत्येक सन्तुष्ट व्यक्ति शोषक होना ही चाहिये तथा विक्षुब्ध असंतोष प्रगतिशील जीवन का आवश्यक लक्षण है और घृणा एवं विद्वेष उसके मूल प्रेरक भाव हैं। फलतः उपकार और अनुग्रह अब दया-दक्षिण्य के प्रतीक न रहकर संगठन शक्ति के क्रीतदास समझे जाने लगे हैं।

इन नवीन प्रवृत्तियों ने अनेक नारों का निर्माण किया है। सबका तात्पर्य यही है कि जो कुछ दिखाई देता है, निंद्य एवं त्याज्य है

और हमारी समस्त परम्परायें प्रतिक्रियावादी हैं। व्यक्ति स्वातंत्र्य आज उच्छृङ्खलता की सीमा का उल्लंघन करके पर-पीड़नकारी बन गया है तथा साम्यवाद की अविश्वासी एवं विद्वेष मूलक प्रवृत्तियाँ अज्ञान एवं जड़ता के प्रति दुराग्रह करने लगी हैं।

चेतावनी

भविष्य के निर्माण के लिए वर्तमान के प्रति आस्था एवं विश्वास अनिवार्य है। प्रस्तुत परम्पराओं को निरर्थक मानकर निरन्तर त्याज्य समझते रहने की प्रवृत्ति हमें निरुद्देश्य एवं लक्ष्य हीन बना देगी। अतः उस ओर हम सजग हों।